8

अन्य परिवारजन तथा परिवार से संबंधित व्यक्ति

देवीलालजी

अपने परदादा सदासुखजी के ज्येष्ट पुत्र, अपने दादा भैंरोलालजी के पुत्रों के संबंध में मैं ऊपर लिख चुका हूँ। सदासुखजी के दूसरे पुत्र भजनलालजी को भी दो पुत्र देवीलाल और वसंतीलाल हुए जिनमें वंसतीलाल की भी अल्पावस्था में मृत्यु हो गयी और केवल देवीलालजी ही जीवित रहे। इस प्रकार देवीलालजी भी मेरे जन्मदाता पिता के संबंध से मेरे चचेरे ताऊ लगे। हमारे परिवार में मेरे गोद लेनेवाले पिता रायसाहब के बाद बुद्धिमानी और कार्यकुशलता में देवीलालजी का ही नाम आता है। नगर में बिजली कंपनी स्थापित करने की भी योजना मूल रूप से उन्हींकी थी। भजनलालजी भी भैरोंलालजी के समान अल्पावस्था में ही दुर्घटना से काल-कवलित हो गये थे और बालक देवीलाल के भी पालन-पोषण का भार रायसाहब ने ही उठाया था। देवीलालजी के प्रहलाद नाम का मुझसे एक वर्ष बड़ा पुत्र था जिसकी माँ भी उसे बचपन में छोड़कर चल बसी थी। मेरी माँ के अभाव की पूर्ति को तो मैयाजी, हरिबक्स मामाजी, ताऊजी गयाप्रसादजी, जन्मदाता पिताजी, गोद लेनेवाली माताजी और दादीजी सभी थे, परंतु प्रहलाद के लिए एक मात्र उसके पिता देवीलालजी ही सब कुछ थे। देवीलालजी ने अपने इकलौते पुत्र की शिक्षा-दीक्षा में कोई कसर बाकी नहीं रक्खी परंतु उसके भाग्य में विद्या नहीं थी। प्रारंभ से ही वह कुसंग में पड़कर हर प्रकार की कुटेवों का आदी हो गया। पिता के अत्यधिक प्रेम ने आग में घी का काम किया। देवीलालजी पुत्र-प्रेम में अंधे थे और प्रहलाद की किसी भी इच्छा का विरोध करने की उनमें सामर्थ्य नहीं थी। बचपन से ही हम दोनों भाइयों की प्रकृति और संस्कार भिन्न थे। परिणामतः, एक ही घर में, एक प्रकार की शिक्षा-दीक्षा में और प्रायः एक-से ही परिवेश में रहते हुए भी हम दोनों के जीवन-विकास में उतना ही पार्थक्य था जितना बाग में अगल बगल खड़े दो भिन्न जाति के वृक्षों के फल

में हो सकता है। रायसाहब की 1932 ई0 में मृत्यु के बाद देवीलालजी ही नगर में एक प्रकार से उनके स्थानापन्न थे। बिजली सप्लाई कंपनी का काम भी वही सँभालते थे और नगर में उनके नाम की ही धूम थी। उन्हें 1937 में तत्कालीन वायसराय लिनलिथ गो द्वारा रायसाहबी का खिताब भी मिल गया था। इस प्रकार गया नगर में हमारे परिवार में एक ही पीढ़ी में दो रायसाहब हो गये थे। यदि अपनी तीव्र बुद्धि, दक्-चातुर्य और व्यापार-कुशलता का लाभ देवीलालजी सारे परिवार के हित में करते और सब का सहयोग लेकर चलते तो हमारे परिवार की स्थिति कुछ और ही होती। परंतु होना कुछ और ही था। हमारे परिवार के कितने ही साधारण कर्मचारी लाखों के अधिपति हो गये और हम नगर के पहले स्थान से निरंतर सरकते निम्न स्थान पर पहुँच गये। ठीक ही कहा गया है —

लक्ष्मीस्तोयतरंगभंगचपला विद्युच्चलज्जीवनम्

वह तो समृद्धिकाल का बना विशाल भवन, विस्तृत बाग, जनपरिवहन की बसें और वस्त्र-व्यवसाय आदि थे जिनके कारण नगर और समाज में हमारी प्रतिष्ठा को कोई आँच नहीं आयी थी परंतु भीतर से अपनी पहले की उच्च स्थिति से तो हम बहुत नीचे चले ही आये थे और हमारी आर्थिक स्थिति अत्यंत दुर्बल हो ही गयी थी। भीतर से हमारी आर्थिक क्षीणता का प्रमुख कारण था जमींदारों द्वारा अपने अल्प ब्याजू रुपयों का, मेरे गोद लेने वाले पिता रायसाहब की मृत्यु के बाद, भाइयों के वैमनस्य के कारण हटा लिया जाना क्योंकि परिवार में तो कलकत्तावाली घटना के बाद हमें कभी कोई घाटा झेलना नहीं पड़ा था।

ठाकुर प्रसादजी खेतान तथा महंत शिवरामजी भारती

अब मैं एक ऐसे गुरुजन का वर्णन करूँगा जो हमारे परिवार के न होते हुए भी परिवार के अंग बन गये थे। उनका नाम है ठाकुरप्रसादजी खेतान। वे गया से 30 मील दूर जहानाबाद में रहते थे। अपने जीवनकाल में उन्होंने वैभव की उच्चतम अवस्था से लेकर निम्नावस्था तक के अनेक उत्थान-पतन देखे थे। उनके परिवार से हमारे परिवार का अत्यंत घनिष्ठ संबंध था। ठाकुर बाबू एक प्रकार से स्वर्गभ्रष्ट देवपुरुष ही थे। छोटे-बड़े सभी प्राणियों के लिए उनके हृदय में प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती थी। मुझ पर भी उनका अपार स्नेह रहता था। मैंने अपने जीवन-निर्माण में जिनसे प्रेरणा ग्रहण की है, उनमें ठाकुर बाबू का भी प्रमुख स्थान है। हमारे परिवार की संपत्ति का शांतिपूर्ण ढंग से विभाजन कर देना भी उनके ही वश की बात थी। उसी विभाजन के कारण मैं

अपनी विभाजित संपत्ति का एकछत्र स्वामी बनकर अपनी रुचि के अनुसार अपने जीवन को आकार दे सका था। ठाकुर बाबू ने मुझे जो जीवन-वेद की ऋचाओं जैसी दो बातें सिखायी थीं, वे इस प्रकार हैं —

1. भगवान ने तुम्हें विशेष सामर्थ्य देकर भेजा है, अतः व्यापार तो निरंतर करते रहना क्योंकि वह तुम्हारा स्वधर्म है परंतु कभी उसमें अपने को इतना अधिक लिप्त मत कर देना कि अपने असली लक्ष्य को भुला बैठो।

2. कैसी भी ऊँची-नीची परिस्थिति हो, अपने आंतरिक संतुलन को मत खो देना। बुरी से बुरी स्थिति में भी तुम अपने हृदय की महत्ता से महान बने रह सकते हो।

दूसरी बात के उदाहरण-स्वरूप वे अपने परिवार के प्रारंभिक वैभव का वर्णन करके उसके बाद की हीनावस्था की बात बताते थे। मेरे होश सँभालने के समय वे पुनः वैभव के उच्च शिखर पर पहुँच चुके थे। इसका प्रमाण यही था कि प्रभात में वेदध्वनि सुनने की इच्छा से अपने भवन के पिछवाड़े में उन्होंने एक वेद-विद्यालय की स्थापना करवा रक्खी थी जिस पर सन् 1937-38 में तीन हजार रुपये महीने का खर्च आता था।

मेरे परिवार के अन्य शुभैषी थे जानीबीघा के महंत श्री शिवराम भारतीजी जो वेदांत के भी बहुत बड़े पंडित थे। देहात के मठ से नगर में आने पर उनका डेरा हमारे घर पर ही रहता था और मुझे घंटों उनके साहचर्य का लाभ मिलता था।

डा. अबुल ख़ैर

डा. अबुल ख़ैर साहब के परिवार की और मेरे परिवार की, मेरे पिता रायसाहब के समय से ही घनिष्ठता थी। उनके पिता डा. जमीर हुसैन और मेरे पिता में दाँतकाटी दोस्ती थी। एक बार मेरी गोदलेनेवाली माता बहुत अधिक बीमार हुई थी तो डा. जमीर हुसैन ने बड़ी लगन से उनकी चिकित्सा की और जब वह अच्छी हो गयी तो मेरे पिताजी ने डोढ़ा नामक गाँव, जिससे निकलकर डाक्टर साहब गया नगर में आये थे, खरीदकर उन्हें भेंट कर दिया। मुझे याद है, अपने पिता रायसाहब की मृत्यु पर, जब मैं अपनी 8 वर्ष की अल्पावस्था में एक अभिभावक के साथ उनके खास-खास मित्रों को श्राद्ध का निमंत्रण देने गया तो डा. जमीर हुसैन साहब के पास पहुँचते ही निमंत्रण-कार्ड देखकर वे रो पड़े और बोले, 'बेटा अब मैं उस राह से भी नहीं निकलूँगा जिस पर तुम्हारा मकान है और जिसके बरामदे में बैठकर मैं और तुम्हारे पिताजी नित्य शतरंज खेला करते थे।' डा. जमीर हुसैन साहब और रायसाहब की घनिष्ठता का अंदाज आगे की इस

एक घटना से ही मिल जायगा। एक बार नगरपालिका के चुनाव में ये दोनों मित्र एक दूसरे के विरूद्ध खड़े हो गये थे। रायसाहब राजस्थान से लौटे थे और उन्हें ज्ञात नहीं था कि डाक्टर साहब पहले से ही प्रत्याशी बन चुके हैं। तत्कालीन अंग्रेज कलक्टर के कहने से उन्होंने नामांकन दाखिल कर दिया। चुनाव में रायसाहब की हार हो गयी और कलक्टर ने जब उनसे पूछा—'वेल, रायसाहब, आप हार कैसे गये!' तो उन्होंने उत्तर दिया कि दो दिन पूर्व ही राजस्थान से लौटा था और मेरी कोई तैयारी नहीं थी। इस पर कलक्टर ने सरकार द्वारा उन्हें नगरपालिका का कमिश्नर नामांकित करा दिया जिस पद पर वे दीर्घकाल तक बने रहे। इसमें मनोरंजक बात यह थी कि जहाँ नगरवासियों ने समझा था कि अब डाक्टर साहब में और रायसाहब में जीवन भर के लिए वैमनस्य हो गया है, वहीं वे यह देखकर चकित रह गये कि चुनाव का परिणाम घोषित होने के दूसरे दिन से ही फिर दोनों मित्र उसी प्रकार बराम्दे में शतरंज खेलते दिखायी दिये। डा. जमीर हुसैन साहब के पुत्र डा. अबुल ख़ैर साहब भी उसी पारिवारिक स्नेह-संबंध का पालन हमारे परिवार के साथ करते थे। वे मुझे अपने छोटे भाई के समान प्यार देते थे और मेरी बहन को अपनी बहन की तरह मानते थे। गया में डा. ख़ैर साहब़ की डाक्टरी की धूम थी और उनके यहाँ रोगियों की भीड़ लगी रहती थी। मैं तो खाँसी और दम फूलने का मरीज था ही और उनके पास दवा के लिए जाता ही रहता था। मुझे दवा देने के बाद वे घंटों मुझे अपने पास बिठाये रखते थे और साहित्य की चर्चा करते थे। वे भी मेरी तरह ही पुस्तकों के और साहित्य के प्रेमी थे। मेरे घर पर प्राचीन वस्त्रों में सजा हुआ किसी मुसलमान का एक आदमकद प्राचीन चित्र टँगा था जिसे मैं उसकी वेशभूषा के कारण मुगल-सम्राट् औरंगजेब का चित्र समझता था। उसके नीचे की पर्सियन लिखावट मैं पढ़ नहीं सकता था। एक बार जब ख़ैर साहब मेरी अस्वस्थता में मुझे देखने मेरे घर पर आये तो उन्होंने उस चित्र को देखकर और उसके नीचे की लिखावट को पढ़कर मुझे बताया कि वह पर्सिया के सुप्रसिद्ध कवि शेखसादी का चित्र है। उन्होंने मुझे प्रेमभरी चुनौती दी कि मैं शेखसादी का कलाम पढ़ूँ नहीं तो वे उस चित्र को ले जायेंगे क्योंकि मैं उसको रखने का अधिकारी नहीं हूँ। ख़ैर साहब स्वयं तुलसीदास के प्रेमी थे और उन्होंने रामायण पढ़ी थी। मैंने शेखसादी का कलाम पढ़ने के लिए छः महीने का उनसे समय माँगा और छः महीने की अवधि बीत जाने पर शेखसादी को पढ़ने में असफल रहने के कारण वह चित्र उन्हें सौंप दिया।

इतने व्यस्त डाक्टर रहते हुए भी मेरी बीमारी या मेरे परिवार में किसीकी भी बीमारी का समाचार सुनते ही ख़ैर साहब घर पर पहुँच जाते थे। हमारे परिवार में उनके यहाँ से जो दवाएँ आती थीं उनका, लाख कहने पर भी, वे मूल्य नहीं लेते थे।

ख़ैर साहब एक बहुत बड़ी राशि प्रतिमास धर्मादे में व्यय करते थे परंतु वे अपना दान-गुप्त रखते थे। उनका सिद्धांत था कि प्रचार करने से और प्रशंसा पाने से आप अपने दान की कीमत वसूल कर लेते हैं। ऐसे धर्मनिष्ठ त्यागी व्यक्ति को अलजियर्स की बीमारी से पीड़ित होकर वर्षों संज्ञाहीन रहकर मृत्यु का वरण करना पड़ा, इसे भाग्य की विडंबना ही कहा जायगा। सूरदास ने ठीक ही कहा है—

दयानिधि! तेरी गति लखि न परे

अधरम धरम, धरम अधरम करि, अकरन करन करे

पाठक बंधु

इन लोगों के साथ-साथ यदि मेरे बचपन के समय के 2-4 अन्य छोटे-मोटे व्यक्तियों का वर्णन न करूँ तो उस परिवेश का परिचय अधूरा ही रहेगा। हमारे परिवार में बासुदेवजी तथा रामजतनजी नामक दो पाठक-वंधुओं का बहुत अधिक आना-जाना था। बड़े भाई वासुदेवजी नाटे और स्थूलकाय थे जबकि रामजतनजी नामक छोटे भाई लंबे और दुबले-पतले थे। शरीर की इस विरुद्ध प्रकारकी संरचना के कारण लोग उन दोनों भाइयों को मोटे पाठकजी और दुबले पाठक ी के नाम से ही जानते थे। मोटे पाठकजी बहुत ही दबंग और दंभी स्वभाव के थे। मैंने उनके मुँह से शायद ही कभी किसी व्यक्ति की प्रशंसा सुनी हो। वे दोष निकालने में और दूसरों के पांडित्य की हँसी उड़ाने में एक ही थे। मुझ पर उनके व्यक्तित्व का आतंक छाया रहता था। उनकी तुलना में उनके छोटे भाई अत्यंत विनम्र, मितभाषी और शालीन दिखाई देते थे। मैंने मोटे पाठकजी के मुँह से एक बार ही किसीकी प्रशंसा के कुछ शब्द सुने थे। वे शब्द थे हमारे गुरु श्री अनंताचार्यजी महाराज के संबंध में जो दक्षिण से आकर हमारे बाग़ में ठहरे थे। पाठकजी ने हमारी बैठक में प्रातःकाल की अपनी नियमित उपस्थति के समय कहा, 'अनंताचार्यजी निस्संदेह महान पंडित हैं। उन्होंने गीता के एक श्लोक के संबंध में मेरी शंका दूर कर दी।' मैं नहीं जानता हूँ, हमारे परिवार की गुरुमहाराज के प्रति निष्ठा देखकर पाठकजी का यह कथन हमारी सहानुभूति पाने की चेष्टा में किया गया था या

सचमुच उन्हें अनंताचार्यजी में उस शास्त्र-ज्ञान की झलक मिली थी जो उन्हें उस समय तक किसी भी अन्य व्यक्ति में नहीं दिखाई दी थी। मेरे मन में तो उनके इस कथन ने अनंताचार्यजी के प्रति अपार श्रद्धा भर ही दी। अनंताचार्यजी ने मेरी बाँह पर भी शंखचक्र की छाप लगा दी थी जो मोटे पाठकजी के प्रमाणपत्र के बाद मुझे तनिक भी कष्टप्रद नहीं लगी। मोटे पाठकजी की विपरीत प्रकृति वाले दुबले पाठकजी से मैं अत्यंत निकटता का अनुभव करता था, और हिलामिला रहता था। वे रुठने पर मुझे मना भी लेते थे।

मन्नू महाराज तथा गणेशजी

इस गंभीर परिवेश में यदि एक दो हलके-फुलके व्यक्तियों को न सम्मिलित किया जाय और कुछ मनोरंजक प्रसंगों का वर्णन न किया जाय तो पाठकों को ये चर्चाएं उबा दे सकती हैं। हमारे घर में रसोइये के पद को दो महाराज सुशोभित करते थे। इनमें प्रमुख मन्नू महाराज मेरे चचेरे ताऊ देवीप्रसादजी की ससुराल के गाँव का था अतः मेरे चचेरे भाई प्रहलाद का मामा कहलाने का गौरव उसे सहज ही प्राप्त था। जिस प्रकार मेरे मामा का पद एकाक्ष हरिबक्सजी चौधरी सँभालते थे उसी प्रकार, एक प्रकार से उनसे होड़ लेने को, मन्नू महाराज भी प्रहलाद का मामा बन बैठा था। वह अधिकार-सीमा में मेरे मामा से कम था परंतु स्वभाव की कठोरता में उनसे कम न था। मुझे तो सदा उससे भय-सा लगा रहता था और चौके में जब वह थाली परोसता तो मैं दुबारा कुछ माँगने का साहस नहीं कर पाता था, अतः यह कार्य अधिकतर मैयाजी से ही करवाता था। दूसरा व्यक्ति हमारी दुकान में एक स्वजातीय चिर-अविवाहित राजस्थानी कर्मचारी था जो हमारी बैठक में ही सोता था और भक्तिभाव में बहुत अधिक लीन रहता था। प्रातःकाल घर के ठाकुरजी की पूजा भी उसके ही जिम्मे थी। वह रामानंदी टीका लगाता था जिसके कारण मन्नू महाराज उसे टीकमचंद कहता था। खुराक भी उसकी अधिक थी अतः मन्नू महाराज ने उस पर यह साखी जोड़ रक्खी थी—

दो जना तो जीम गया, दो जना हैं बाकी

टीकमचंद सिरसा आया नहीं, नहीं तो चूल्हा छोड़ता न चाकी

हमारे घर के बुजुर्ग सदस्य के रूप में रहने के कारण अन्य कर्मचारी तथा घर के भी सभी लोग आदर से उसके नाम में जी लगाकर ही बोलते थे। गणेशजी अपढ़ थे और स्वभाव के भी बड़े भोले थे।

ठाकुरजी की पूजा करते समय जब वे 'पतित पावन सीताराम' के स्थान पर 'तपोतपावन सीताराम' तथा 'जब बोलो तब राम हि राम, खाली जिह्वा से क्या काम' के स्थान पर 'जब बोलो तब राम हि राम, ताली-झव्वा से क्या काम' गाते तो हम हँसते-हँसते लोटपोट हो जाते।

गणेशजी हमारी एक कपड़ा-दुकान में कार्यरत थे। वे स्त्री, पुत्र, परिवार की चिंता से तो मुक्त ही थे, केवल सबेरे ठाकुर जी की पूजा करना और दिन भर ग्राहकों को कपड़ा बेचना, यही उनको व्यस्त रखने के काम थे। खुदरा दुकान में ग्राहक की आवश्यकता के अनुसार कपड़ा फाड़कर बेचा जाता था। यद्यपि कैंची उपलब्ध रहती थी परंतु बेचनेवाले इतने पटु हो जाते थे कि आदेशानुसार कपड़ा नाप कर दोनों हाथों की तर्जनी के बल से उसे फाड़कर ग्राहक को सँभला देते थे। यद्यपि हम लोगों ने मोल-तोल की दुकानदारी समाप्त कर निर्धारित मूल्य में बिना कमबेशी किये वस्त्र-विक्रय की प्रथा प्रारंभ की थी परंतु वह बात पुरानी हो चुकी थी और हर दुकान में नहीं चल पाती थी। गणेशजी छोटी दुकान में सेवारत थे और कपड़े नापने और फाड़कर बेचने के सिवा कोई दूसरा काम उन्हें आता ही नहीं था। मोटी बुद्धि और भोले स्वभाव के होने के कारण लोग उनकी चुटकियाँ भी खूब लेते थे। उनके संबंध में कई किस्से प्रचलित थे जिन्हें लोग बड़े चाव से सुनाते थे। एक बार सोये-सोये सपने में उन्होंने किसी ग्राहक से कपड़ों के विक्रय का मोल-भाव करना प्रारंभ किया और 'अच्छा ले, तेरी बात ही मान लेता हूँ, आठ आने गज ही दे देना', यह कहते हुए उन्होंने अपनी धोती उँगलियों के जोर से फाड़कर दो टुकड़े कर दी और अधनंगे हो गये। वे आम बैठक में ही सोते थे इसलिए सवेरे गद्दी झाड़नेवाले नौकर ने उन्हें अर्धनग्न सोये देखकर और आधी फटी हुई धोती एक ओर पड़ी देखकर सपनेवाली बात घर भर को सुना दी। यह घटना सभी लोगों के लिए अत्यंत मनोरंजक और हास्योत्पादक थी। बिचारे गणेशजी हास्यरस का आलंबन बनकर रह गये। वे और भी विविध प्रकार से लोगों के मनोरंजन के साधन बने रहते थे। एक बार तो एक नकली समधी द्वारा उन्हें शादी का प्रलोभन देकर उनकी मूँछ और बालों में खिजाब भी लगवाया गया था।

यद्यपि गणेशजी अधेड़ उम्र के हो चुके थे और लंबा टीका लगाकर साधु संतों की तरह रहते थे परंतु पत्नी की लालसा उनके गोपन मन में अवश्य छिपी थी। उन्होंने अपनी मूर्खता से अपनी युवावस्था में पत्नी पाने का सुयोग गँवा दिया था। कहा जाता है कि विवाह-संबंध तय हो जाने पर जब होनेवाले ससुर उनके पिता से यह जानने को आये थे कि बरात में कितने व्यक्ति आयेंगे तो गणेशजी,

जो पास ही बैठे थे, सामने आकर उससे बोले - 'कोई आये या मत आये, मैं और मेरा बाप, दो व्यक्ति तो आयेंगे ही।' अपने होनेवाले जामाता का व्यवहार देखकर श्वसुर महोदय के कान खड़े हो गये और उन्होंने संबंध करने से इन्कार कर दिया। उन्हें झूठे विवाह का प्रलोभन देने की घटना यों है— हमारे पड़ोस में रहने वाले एक संबंधी श्रीनारायणजी ने गणेशजी को मूर्ख बनाने की नीयत से एक व्यक्ति को कन्यादान करने को इच्छुक सजातीय व्यक्ति के रूप में घोषित किया। गणेशजी को यह बताया गया कि अपनी कन्या का विवाह उनसे करने के पूर्व वह उन्हें देखना चाहता हैं। गणेशजी मगन हो गये। उन्होंने लोगों के कहने से अपनी मूँछ और सिर के बालों में, जो सफेद हो चुके थे, खिजाब लगा लिया और नये कपड़े पहनकर सजधज कर बैठ गये। फर्जी श्वसुर महोदय ने उनका चुनाव कर लिया और कहा कि वे जल्दी ही दस्तूर कर देंगे। उन्हीं दिनों मेरे विवाह की चर्चा चल रही थी। गणेशजी के मन में तो लड्डू फूट रहे थे। एक दिन अकेले में पाकर मुझसे मूँछ पर ताव देकर बोले, 'बाबू, आप से पहले मैं दुल्हन लाकर दिखा दूँगा।' बाद में सारी घटना की जानकारी मिलने पर, हँसते-हँसते मैंने भी उस गरीब के साथ किये गये इस मजाक का भरपूर आनंद उठाया।

यह सब परिवेश गया में मेरे बचपन के दिनों में उपलब्ध.था जिसके प्रमुख पात्रों की थोड़ी-बहुत झाँकी मैं ऊपर दे चुका हूँ। मेरे बचपन की प्रमुख घटनाओं में मेरा मोटर के पहियों के नीचे आ जाना भी है जिसकी मुझे बहुत हलकी-सी याद है। उस समय मेरी अवस्था 4-5 वर्ष से अधिक की नहीं थी। चालक की कुशलता से गाड़ी मेरी पँसलियों को छूकर रुक गयी थी अन्यथा इन संस्मरणों के लिखने की नौबत ही न आती। एक बार फल्गु नदी में डूबने से मुझे किनारे पर मछली पकड़ने को बैठे एक व्यक्ति ने बचा दिया था। एक बार जब मेरी माँ राजस्थान में बीमार थी तो मैं बिहार के गया शहर में दौड़ता हुआ गिरकर ठुड्डी पर भयानक चोट खा गया था जिससे सारा शरीर लहू से सन गया था। इसमें आश्चर्यजनक बात यह है कि माँ ने उसी रात सपने में मुझे लहू से सना हुआ देखा था और सबेरे उठते ही राजस्थान से मेरे स्वास्थ्य का हाल जानने को तार भिजवाया था। उस चोट का चिह्न आज भी मेरी ठोडी पर देखा जा सकता है। स्वप्न और परामनोविज्ञान के अध्येताओं के लिए उपर्युक्त घटना महत्त्वपूर्ण हो सकती है इसीलिए इसका उल्लेख मैंने यहाँ कर दिया है अन्यथा ऐसी चोटें खाना और गिरना-पड़ना तो बचपन की सामान्य घटनाएं हैं।

मेरा छोटा भाई बासुदेव

मेरा छोटा भाई बासुदेव मुझसे चार वर्ष छोटा था। वह प्रारंभ से ही बहुत कुशाग्र बुद्धि और शांत प्रकृति का था। वह साहित्यिक रुचि से संपन्न था और कविताएं भी लिखता था। वह मेरे ताऊजी गयाप्रसादजी का अत्यंत दुलारा था। वे ही गया में उसकी देखभाल करते थे। मुझे कभी ऐसा स्मरण नहीं आता है कि उसके प्रति मेरे मन में कभी क्रोध या ईष्या का उदय हुआ हो या हम भाइयों में कभी किसी बात के लिए झगड़ा हुआ हो। एक बार हमारे घर से प्रायः आधी मील दूर पुरानी गोदाम महल्ले में वह मेरे साथ एक विवाहोत्सव में चला गया था। थोड़ी देर बाद उसे न देखकर और विवाहस्थल में सब ओर ढूँढकर निराश हो जाने पर मैं रोता हुआ घर आया और उसके खो जाने की सूचना दी। घर में खलबली मच गयी और चारों ओर उसे ढूँढने आदमी दौड़ पड़े। अंत में हमारे घर से विपरीत दिशा में विवाहस्थल से आधी मील दूर वह रेलवे स्टेशन के पास पाया गया। उसकी मृत्यु, 14-15 वर्ष की किशोरावस्था में पेट् की थायसिस की बीमारी से हुई थी जो उन दिनों असाध्य समझी जाती थी। जब हमारा अधिकांश परिवार द्वितीय महायुद्ध के समय राजस्थान में चला गया था तो वह भी वहीं मेरे जन्मदाता पिता के पास मंडावा ग्राम में रहता था। हमारे ननिहाल के गाँव नवलगढ़ में रामदेवजी का मेला बड़ी धूम धाम से मनाया जाता था। मैं तो अपने विवाह के बाद अपने परिवार समेत गया आ गया परंतु बासुदेव राजस्थान में ही रह गया था। वह मंडावा से नवलगढ़ मेला देखने गया था। वहीं सबेरे खाली पेट केले खा लेने के कारण उसकी बीमारी उभर गयी और उसे चिकित्सार्थ जयपुर के बड़े अस्पताल में भरती कर दिया गया था। गया में सूचना मिलने पर मैं अपने ताऊजी के साथ उसे देखने जयपुर गया था और वहाँ 8-10 दिन टिका रहा था। वह अस्पताल में हाइलिग नामक एक जर्मन डाक्टर की देखरेख में था। उस डाक्टर से कोई आशाजनक संदेश नहीं मिला। बासुदेव से बातें होती रहती थी। वह मृत्यु की आशंका से तनिक भी भयभीत नहीं था। तीन महीनों बाद, जिस दिन बंगाल के अकाल पीड़ितों के सहायतार्थ गया नगर में मेरे द्वारा आयोजित कविसम्मेलन होनेवाला था, उसी दिन 1943 के दिसंबर में उसके निधन का तार आया।

मेरी पुत्री शकुंतला

मेरी प्रथम संतान शंकुंतला का जन्म 1944 के अंतिम महीनों में प्रतापगढ़ में हुआ था। इसकी सूचना मुझे उसी समय प्राप्त हुई थी जब मेरी गोद लेनेवाली

माता और मेरे बीच स्वर्णालंकारों का विभाजन हो रहा था। 1948 के अप्रिल महीने में जब शकुंतला साढ़े तीन वर्ष के लगभग थी, उस पर चेचक का प्रकोप हुआ। मैंने उसे चेचक का टीका दिलाया था पर अज्ञानवश वह चेचक का प्रकोप हो जाने के बाद दिलाया जा सका था। उस समय वह कुछ अस्वस्थ थी और मैने यह विचार नहीं किया कि यह चेचक का प्रारंभिक लक्षण भी हो सकता है। टीके ने आग में घी का काम किया। मैं एक डाक्टर के पास गया तो वह अपने कान छूकर बोला - 'भगवती के सम्मुख डाक्टरी नहीं चलती है। आप उसीकी उपासना करें।' विवश होकर लोगों के सुझाने पर मैं एक होमियोपैथी के डाक्टर से गोलियाँ लेकर उसे खिलाने लगा। सुबह शीतला देवी के मंदिर में जाना, पीपल के पेड़ में जल चढ़ाना और अन्य जो भी टोने-टोटके मुझे जिस किसीने भी सुझाये, मैं आँख मूँदकर श्रद्धा समेत करता गया। पर चेचक को तो उस बालिका को लेकर ही जाना था। उसकी अवस्था बिगड़ती गयी और अंत में 10-15 दिन महान कष्ट झेलकर, मुझे रोता-बिलखता छोड़कर वह चली गयी। उसके चेचक के ताप से कराहने की याद आते ही आज भी हृदय चीख उठता है। मेरी जन्मदात्री माता और मेरे छोटा भाई बासुदेव की मृत्यु राजस्थान में हुई थी जब मैं उनसे बहुत दूर गया नगर में था। उनकी मृत्यु का आघात आँखों के द्वारा नहीं, कानों के द्वारा ग्रहण किया गया था अतः उसकी तीव्रता भी परावर्तित होकर कुछ कम हो गयी थी। परंतु अपनी पुत्री की, जो मेरी प्रथम संतान होने के कारण मुझको अत्यधिक प्रिय थी, मृत्यु तो मेरी आँखों के आगे हुई थी। उसकी पीड़ा से कराहने की ध्वनि मैंने उसके पास बैठकर कई दिनों तक सुनी थी और उसको तिल-तिल मृत्यु की ओर सरकते जाने को मैं अपनी आँखों से देखता रहा था। चेचक की तीव्र जलन से पीड़ा के कारण उसके कराहने की ध्वनि आज भी मेरे हृदय में उसी तीव्रता से प्रतिध्वनित हो जाती है। मैंने एक दिन भगवती के मंदिर में जाकर यह भी प्रार्थना की थी कि यदि तुझे बलिदान ही चाहिए तो उस अबोध बालिका के स्थान पर मुझे ले ले और किसी भी तरह उसके प्राणों की रक्षा कर दे, परंतु सब निरर्थक था। मेरी सब प्रार्थना निष्फल हो गयीं और शून्य मरुस्थल में भूख-प्यास से मरते हुए पथिक की अंतिम पुकारों के समान अथवा महासमुद्र में डूब रहे मनुष्य की निष्फल चीख के समान मेरी प्रार्थनाओं का कोई लाभ नहीं निकला। उसकी मृत्यु के बाद मुझे देवी-देवताओं की सब प्रकार की पूजा-उपासना से अरुचि हो गयी। कुछ दिनों के लिए मैं पूर्णतः आस्थारहित हो गया। मुझे प्रारंभ से यह विश्वास था

कि कोई महान शक्ति सदा मुझे चारों ओर से अपनी सुरक्षा में लपेटे है। वह मेरे जीवन को किसी विशेष लक्ष्य की ओर सतत बढ़ा रही है। अपने कवित्व की असाधारण क्षमता का अनुभव भी मैं निरंतर करता रहा था। औरों के द्वारा उसकी उद्घोषणा से यह भावना सतत दृढ होती रहती थी कि दुर्लभ कवित्वशक्ति का वरदान देकर वह सृष्टिकर्ता मुझपर अत्यधिक कृपालु है और मुझे किसी महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए निरंतर अपनी सँभाल में लिये है। एकाएक काँच के महल के समान वह सारी भावना चूर-चूर होकर बिखर गयी। मुझे लगा कि कहीं कोई देखने-सुननेवाला नहीं है। सृष्टि एक अंधी प्रक्रिया है जहाँ प्रत्येक क्षण घटनायें उसी प्रकार उलटी-सीधी घट रही हैं जैसे आकाश में बादलों का उलटफेर हो रहा है या समुद्र की लहरें उठ-गिर रही हैं। नियामक कभी रहा भी हो तो वह नियम बनाकर सदा के लिए सेवा-निवृत्त हो गया है। मैंने शकुंतला की मृत्यु पर जो कविताएं दुख के आवेश में लिखी हैं उनमें मेरे संतप्त हृदय की अनुभूतियाँ सुरक्षित हैं। वे मेरी ग्रंथावली के प्रथम खंड में छपी हैं। उन रचनाओं में से तीन यहाँ उद्घृत कर रहा हूँ।

(1)

मेरा हृदय कुलिश-कठोर
मृत्तिका-घट-सा न फूटा टूटते ही डोर
वह चपलता, स्मित वदन का वह सरल उल्लास
वे सुधामय शब्द, जैसे स्वप्न का आभास
भूमि पर भी पग जिसे रखने ने देता, हाय !
वही कोमल गात सिकता में दबाया जाय !
भग्न सर-सा साँस मैं भरता रहूँ दिन-रात
तोड़कर ले जाय कोई प्राण का जलजात !
वही भूमि, गगन, दिशाएँ, वही सब संसार
ज्योति-हंस उड़ा कहाँ जाने क्षितिज के पार ?
पहुँच सकता आज मैं भी उड़ उसीकी ओर !
मेरा हृदय कुलिश-कठोर
मृत्तिका-घट-सा न फूटा टूटते ही डोर

(2)

अब कैसा व्यवधान !
तुम हो जहाँ, वहाँ हूँ मैं भी, दोनों एक समान
तुम जड़ तो मैं भी जड़ता का हूँ विकार ही निष्फल
चेतन तुम तो मैं भी आत्मा की सत्ता ध्रुव, अविचल
तुम मुझमें, मैं तुममें, दोनों एक देह, मन, प्राण
श्वास-पथिक कर रहे पार यह जन्म-मरण की घाटी
थकित प्राण चल रहे तिमिर में लिये ज्ञान की लाठी
मैं हँस रहा देखकर अपना ज्ञान सदृश अज्ञान
कैसे नपे असीम गगन नन्ही-नन्ही पाँखों से!
देखूँ कैसे रूप तुम्हारा मिट्टी की आँखों से!
तुम अनंत की ज्योति और मैं उसका अटल प्रमाण
अब कैसा व्यवधान !
तुम हो जहाँ, वहाँ हूँ मैं भी, दोनों एक समान

(3)

अंतर में तू आयी
मेरी बहिश्चेतना झूठी
मानी नहीं तनिक जब रूठी
घट-घट की यह दृष्टि अनूठी
मैंने निज में पायी
बाह्यांतर प्रतिघात नहीं अब
कौन दिशावधि, ज्ञात नहीं अब
अश्रु-हास की बात नहीं अब
कुछ अपनी न परायी
यह अकूल विक्षोभ-रहित है
नाम-रूप-हृत केवल चित् है
शुद्ध पूर्णता में स्वस्थित है
पर्वत कहूँ कि राई!
अंतर में तू आयी।

मेरी उपर्युक्त मानसिक पीड़ा की स्थिति में मेरी पत्नी ने अपने मातृ-हृदय की वेदना को पीकर मुझे जो ढाढ़स बँधाया, वह अद्‌भुत था। उसने ऐसा रुख धारण किया मानों यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं थी। जैसे पेड़ से कच्चे फल भी कभी-कभी आँधी से टूटकर गिर जाते हैं, वैसे ही कुछ प्राणी कच्ची उम्र में चले जाते हैं। मनुष्य को, जीवन में ऐसी परिस्थितियों को वीरता और साहस के साथ झेलना होता है।

धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी, आपतकाल परखिये चारी

मेरी पत्नी के हृदय में अपनी प्रथम संतान के वियोग की पीड़ा किसी भी अवस्था में मुझसे कम नहीं रही होगी परंतु मुझे सांत्वना देने के लिए उसने ऐसा रुख़ अपना लिया जैसे उसे इसका कोई दुःख नहीं था और यह जीवन की एक साधारण दुःखद घटना मात्र थी। शकुंतला की मृत्यु के एक वर्ष पहले गहलौर ग्रामसंबंधी घटना घट चुकी थी जिसमें मेरे द्वारा एक परिवार की संपत्ति की रक्षा के लिए अपने पिता की प्रेरणा से एक शुभ कर्म संपादित हुआ था। यद्यपि वह परिवार विनष्ट होने से बच नहीं पाया था परंतु मेरा उसमें तिल-भर भी दोष नहीं था और मैंने तो अपनी ओर से उसके लिए त्याग ही किया था। मैंने अनुभव किया कि यदि मैं उस समय धन के मोह में उक्त गाँव को उसके मूल स्वामी को न लौटा कर बुद्धगया के महंत को बेच देता तो शकुंतला की मृत्यु में मुझे उसी पाप की छाया दिखाई देती। किसी-न-किसी पाप के फलस्वरूप ही मुनष्य को इस प्रकार के दुःख भोगने होते हैं। परंतु इस जन्म में जानबूझकर किये हुए न होने से उन्हें पूर्वजन्म का मानकर संतोष किया जा सकता है क्योंकि जो कुछ पूर्व जन्मों में किया जा चुका है उसके लिए संतप्त होने का कोई अर्थ नहीं रहता। उसके फल को तो संतोष के साथ भोगना ही है। मैंने भी अंत में यही मानकर संतोष किया कि यह मेरे पूर्व-जन्म के किसी पाप का ही फल होगा। पूर्वजन्म के पुण्य और पाप के फल का सिद्धांत वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और धार्मिक रूप से जितना सत्य है उतना ही भावनात्मक और न्यायिक दृष्टि से भी सही है। यह प्रत्येक धर्म के मूल में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है और जो इसे नहीं स्वीकार करते उनके पास चेतन सृष्टि की विषमता का कोई उत्तर नहीं है। यदि कयामत या डूम्सडे (प्रलय) के बाद ही शुभ और अशुभ फलों का विचार होता है तो आज जो अच्छे-बुरे फल भोगे जा रहे हैं वे भी तो किसी पूर्वकालिक कयामत के फल ही होंगे। अन्यथा उनका क्या औचित्य है! और कयामत या डूम्सडे के बाद फल भोगने को तो फिर कोई न कोई शरीर ग्रहण करना ही होगा चाहे बहिस्त में हो या दोजख़ में। इस प्रकार यदि हम सृष्टि का

कोई नियंता स्वीकार करते हैं या सृष्टि में कोई व्यवस्था स्वीकार करते हैं तो द्रविड़-प्राणायाम की विधि से जन्म के पूर्व की कोई स्थिति और मृत्यु के बाद पुनः शरीर-धारण की कोई स्थिति, दोनों स्वीकार करनी ही होगी। चाहे कैसा भी भौतिकतावादी, गहरा नास्तिक या वैज्ञानिक दृष्टिवाला व्यक्ति हो, उसे व्यवस्था तो स्वीकार करनी ही होती है, प्रश्न केवल किसी सचेत निर्देशक का है। केवल अंतर यही रहता है कि हिंदू और बौद्ध धर्मों में जन्म-मृत्यु का प्रवाह निरंतर चलता रहता है एवं अविच्छिन्न है जब कि दूसरे धर्मों में मृत्यु के बाद फल भोगने के लिए बीच में काल का करोड़ों वर्ष का अंतराल खड़ा कर दिया गया है। मृत्यु के बाद कयामत तक प्रतीक्षा करने के बाद यदि फल मिलनेवाला हो तो उस फल का महत्त्व भी क्षीण हो जाता है। यदि मुझे ज्ञात हो जाय कि मुकदमें की डिग्री तो होगी परंतु वह पचासों वर्ष के बाद होगी तो उस डिग्री के प्रति मेरा क्या आकर्षण रहेगा! मैंने भारतीय अदालतों में किरायेदार से खाली कराने के सभी मुकदमे मकान के मालिकों द्वारा अदालत के बाहर तय किये जाते देखे हैं क्योंकि यदि दावा करने के पच्चीस वर्षों के बाद मकान खाली भी हो तो उसका क्या अर्थ है!